ISSN No. 0971-796 ×

प्राकृत-विद्या
पागद-विज्जा

PRAKRIT-VIDYA
Pāgada-Vijjā

प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राच्य भारतीय भाषाओं की हिन्दी तक की विकास-यात्रा दर्शानेवाली समर्पित त्रैमासिकी शोध-पत्रिका

A quarterly journal devoted to researches on the development of Prakrit, Apabhramsha and Ancient Indian Languages upto Hindi Language

वीर निर्वाण संवत् 2546 अक्टूबर-दिसम्बर 2019 वर्ष 31 अंक 4

Veer Nirvan Samvat 2546 October-December 2019 Year 31 Issue 4

आचार्य कुन्दकुन्द समाधि-संवत् 2025

सम्पादक-मण्डल

श्री पुनीत जैन
(नवभारत टाइम्स)

डॉ. रमेश कुमार पाण्डेय
(श्री ला.ब.शा.रा. संस्कृत विद्यापीठ)

मानद सम्पादक

प्रो. (डॉ.) वीरसागर जैन
(श्री ला.ब..शा.रा. संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली)

प्रबन्ध सम्पादक

श्री कमलकांत जैन

प्रकाशक
श्री अनिल कुमार जैन
महामन्त्री
श्री कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट
18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
नई दिल्ली-110067
फोन : (011) 26564510, 46062192
ई-मेल: kundkundbharti@gmail.com

Publisher
SHRI ANIL KUMAR JAIN
Secretary
Shri Kundkund Bharti Trust
18-B, Special Institutional Area
New Delhi-110067
Phone: (011) 26564510, 46062192
E-mail: kundkundbharti@gmail.com

इस प्रति का मूल्य—बीस रुपया

अनुक्रम

क्र.सं.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ सं.
1.	मंगलाचरणः सरस्वती जयमाल	ब्रह्म जिनदास	3
2.	सम्पादकीय : धर्म और पर्यावरण : (जैनधर्म के विशेष सन्दर्भ में)	प्रो. वीरसागर जैन	5
3.	स्वाध्याय	आचार्य विद्यानन्द मुनिराज	12
4.	जैन योग का वैज्ञानिक विवेचन	आचार्य श्रुतसागर मुनिराज	20
5.	आचार्यश्री को समर्पित विनयांजलि	प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन	25
6.	प्राकृत भाषा अवश्य पढ़ें/प्राकृत भाषा क्यों पढ़ें	प्रो. (डॉ.) कमलचन्द सोगाणी	29
7.	कविवर पं. दौलतराम : कतिपय समीक्षकों की दृष्टि में	श्रीमती नीतू जैन	31
8.	जैनधर्म में ज्ञानदान का महत्त्व	श्रीमती स्नेहलता जैन	35
9.	सम्यक्चारित्र के भेद-प्रभेद	किरण प्रकाश जैन	40
10.	जैन परम्परा में निषीधिका : एक चिंतन	डॉ. सुमत कुमार जैन	49
11.	आचार्य अमृचन्द्रकृत टीकाओं में आगत कुछ विशिष्ट बिन्दु	डॉ. शैलेश कुमार जैन	55
12.	प्राकृत-कोश-साहित्य की परम्परा : परिचयात्मक अनुशीलन	डॉ. सत्यनारायण भारद्वाज	65
13.	वैशाली के आंगन में	प्रो. प्रेमसुमन जैन	79
14.	वैशाली-कुण्डग्राम	पं. बलभद्र जैन	81
15.	कुन्दकुन्द भारती में उपलब्ध ग्रन्थों का सूची-पत्र		91
16.	समाचार-दर्शन		93

'प्राकृतविद्या' के आजीवन सदस्य बनें

प्रिय पाठकों ! आशा है कि आपको आपकी प्रिय पत्रिका **प्राकृतविद्या** (त्रैमासिक शोध पत्रिका) नियमित रूप से मिल रही होगी, किन्तु यदि आप इसे आगे भी नियमित रूप से आजीवन पढ़ना चाहते हैं तो आपसे निवेदन है कि आप शीघ्र ही 1500/- रुपये जमा करके इसके आजीवन सदस्य बन जाएँ, ताकि इसमें कोई विघ्न न आए। विशेष जानकारी हेतु श्री कमलकांत जैन 9871138842 एवं श्री चितरंजन 97110 62265 से सम्पर्क करें। ❁❁

जैन परम्परा में निषीधिका : एक चिंतन

—डॉ.सुमत कुमार जैन*

निषीधिका को सामान्य रूप से हम समाधिस्थल, समाधिस्थलि आदि के रूप से जानते हैं और प्रायः ऐसे ही अर्थों का प्रतिपादन शब्दकोशों में भी मिलता है। जैन श्रमण की आचार-विचार-निरूपण-परम्परा प्राचीनकाल से प्रारम्भ होकर वर्तमान तक प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी एवं आधुनिक सभी क्षेत्रीय भाषाओं में उपलब्ध होती है। इस आचार-विचार परम्परा में श्रमण महात्माओं के जन्म और जीवन के साथ ही मरण को भी श्रेष्ठतम बताया गया है। श्रीमदाचार्य अमितगति के अनुसार–

दृष्ट्वा बाह्यमनात्मनीनमखिलं मायोपमं नश्वरं,
ये संसारमहोदधि बहुविधक्रोधादिनक्राकुलम्।
तीर्त्वा यान्ति शिवास्पदं शममयं ध्यात्वात्मतत्त्वं स्थिरं,
तेषां जन्म च जीवितं च सफलं स्वार्थैकनिष्ठात्मनाम्॥[1]

अर्थात् जो सारे बाह्य जगत् को अनात्मीय, मायारूप तथा नश्वर देखकर, स्थिर आत्मतत्त्व का ध्यानकर, नाना प्रकार के क्रोधादि मगरों से भरे संसार-समुद्र को तिरकर सुखमय शिवस्थान को प्राप्त होते हैं, उन आत्मीय स्वार्थ की साधना में अद्वितीय श्रद्धा रखने वाले महात्माओं का जन्म और जीवन सफल होता है। इन साधक, ज्ञानी, एवं महात्माओं का मरण भी उत्कृष्ट होता है। ये अत्यन्त उल्लास, उमंग, आनन्द और हर्ष से परममित्र-तुल्य समाधि को चाहते हैं और अहर्निश इसी का अभ्यास करते हैं। इसे ही मृत्यु-महोत्सव भी कहा गया है।

जैन परम्परा में यह सल्लेखना या समाधिमरण कहलाता है। जैन ग्रन्थों में उल्लेख है कि अतिवृद्ध या असाध्य रोग हो जाने पर, अप्रतिकार्य उपसर्ग आ जाने पर अथवा दुर्भिक्ष आदि के होने पर साधक साम्यभावपूर्वक अन्तरंग कषायों का सम्यक् प्रकार से दमन करते हुए, भोजन आदि का त्याग करके, धीरे-धीरे शरीर को कृश करते हुए, इसका त्याग कर देते हैं, उसे सल्लेखना या समाधिमरण

*सहायक आचार्य, जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर-313001 मो.: 9024764349 Email: drsumat.jain@gmail.com

कहते हैं।[2] अर्थात् जो धर्मबुद्धि से, स्वतः नाश को प्राप्त हो रही शरीर की अवस्था को देखकर, उसके ऐसे ही स्वरूप का विचार करते हुए, निरासक्त होते हुए, धीर-वीर भाव से शरीर का त्याग करते हैं और नया शरीर कर्मोदय वश प्राप्त होता है, उसे प्रत्याख्यान, सल्लेखना, समाधिमरण आदि नामों से जाना जाता है। श्रमण ऐसा ही मरण करते हैं, परन्तु जो ऐसा करते हुए नया शरीर ग्रहण नहीं करते हैं, उसे निर्वाण कहते हैं। समाधिमरण के पश्चात् उस स्थान पर जहाँ श्रमण महात्मा मुनि का दाहसंस्कार किया जाता है, वहाँ निषीधिका का निर्माण किया जाता है।

जैनपरम्परा में निषीधिका का तात्पर्य उस स्थान से ग्रहण किया जाता है, जहाँ किसी मुनि अथवा महान् पुण्यात्मा के मृत शरीर के दाहसंस्कारपूर्वक अस्थियों को कलश में भरकर स्थापित किया जाता है।

वस्तुतः 'निषीधिका' जैन परम्परा का मौलिक शब्द है। इसे जैन ग्रन्थों में निसीहिया, निषद्या, निषीधि, नैषधिका आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। इनमें निषीधिका शब्द के अनेक अर्थों का विवेचन किया गया है, जो मेरी दृष्टि में एक-दूसरे के पूरक हैं। व्यवहारभाष्य की वृत्ति में कहा गया है कि– **'नैषधिक्यां वा शवपरिष्ठापनभूम्याम्'** अर्थात् वह भूमि जहाँ मुनि के शव का अंतिम संस्कार किया जाता है।[3] **निषीधीर्योगिवृत्तिर्यस्यां भूमौ सा निषिधी इत्युच्यते** अर्थात् अर्हदादिकों के व मुनिराज के समाधि-स्थान को निषीधिका कहते हैं।[4] वसुनंदि श्रावकाचार में इसका उल्लेख निर्वाणभूमि के अर्थ में उपलब्ध होता है–

जिणजम्मण-णिक्खमणे णाणुप्पत्तीय तित्थं चिण्हेसु।
णिसिहीसु खेत्तपूजा पुव्वविहाणेण कायव्व॥[5]

प्रतिक्रमण-त्रयी में निषीधिका[6] के 17 अर्थ बताये हैं–

णिसीहियाए। निषीधिकाशब्दोऽनेकार्थाभिधायो तथाहि— (1) जिनसिद्ध-प्रतिबिंबानि कृत्रिमाकृत्रिमाणि (2) तथा तदालयः (3) बुद्ध्यादिलब्धिसम्पन्ना मुनयः (4) तैराश्रितश्रेत्राणि (5) अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिनः (6) ज्ञानोत्पत्तिप्रदेशाः (7) तैराश्रितक्षेत्राणि (8) सिद्धजीवाः (9) तन्निर्वाणक्षेत्राणि (10) तैराश्रिताकाशप्रदेशाः (11) सम्यक्त्वादिचतुर्गुणयुक्तास्तपस्विनः (12) तैराश्रितक्षेत्रम् (13) तत्त्यक्त- शरीराश्रितप्रदेशाः (14) योगस्थितास्तपस्विनः (15) तैराश्रितं क्षेत्रम् (16) तन्मुक्त-शरीराश्रितप्रदेशाः (17) त्रिविध (भक्तप्रतिज्ञा, प्रायोपगमन और इंगिनी) पण्डित मरणस्थिता मुनयः।

प्राकृत गाथाओं में इसे निम्नप्रकार व्यक्त किया गया है–

जिणसिद्धबिंबणिलया किदकिदगा य रिद्धिजुदसाहू।
णाणजुदा मुणिपवरा णाणुप्पत्ती य णाणिजुदखेत्तं॥
सिद्धा य सिद्धभूमी सिद्धाण समासिओ णहादेसो।
सम्मत्तादिचउक्कं उप्पण्णं जेसु तेहिं सिदखेत्तं॥
चत्तं तेहिं य देहं तट्ठवियं जेसु ता णिसीहीओ।
जेसु विसुद्धा जोगा जोगधरा जेसु संठिआ सम्मं॥
जोगिपरिमुक्कदेहा पंडितमरणट्ठिदा णिसीहीओ।
तिविहे पंडिदमरणे चिट्ठंति महामुण समाहीए॥
एयाओ अण्णाओ णिसीहियाओ सया वंदे।

श्वेताम्बर जैनसम्प्रदाय के ग्रन्थों में निसीहिया या निसेहिया शब्द बहुत जगह पर भिन्न अर्थ में प्रयोजित किया गया है–

स्वाध्यायभूमि, अध्ययनस्थान (आचारांग, 2-2-2), थोड़े समय के लिए उपात्तस्थान (भगवती 14-101), नैषेधिकी– स्वाध्याय भूमि (समवायांग पत्र 40), पाप क्रिया का त्याग (प्रतिक्रमण सूत्रा), मुक्ति-मोक्ष, श्मशानभूमि, तीर्थंकर या मुनि के निर्वाण का स्थान, स्तूप, समाधि (वसुदेवहिण्डी, पृष्ठ 264-309), शरीर, वसति-साधुओं के रहने का स्थान एवं स्थण्डिल-निर्जीव भूमि (आवश्यकचूर्णि)[7] आदि।[8]

निषीधिका के निर्माण हेतु आचार्य शिवार्य ने भगवती आराधना में निर्दिष्ट किया है कि निषीधिका कान्त प्रदेश में, अन्यजनों को दीख न पड़े, ऐसे प्रदेश में होना चाहिए। वह स्थान प्रकाश सहित हो, नगर आदि से अतिदूर न हो, न अति समीप हो एवं विस्तीर्ण, प्रासुक और दृढ़ होना चाहिए। निषीधिका चींटियों से रहित हो, छिन्द्रों से रहित हो, घिसी हुई न हो, समान भूमि में स्थित हो, निर्जन्तुक बाध रहित हो, गीली तथा इधर-उधर हिलने वाली न हो।[9]

निषीधिका के निर्माण में दिशाओं पर भी विचार किया गया है। आचार्य शिवार्य के अनुसार निषीधिका का निर्माण नैऋत्य दिशा में होना चाहिए। इस दिशा में होने से सर्वसंघ को समाधि लाभ होता है। दक्षिण दिशा में करने से आहार की सुलभता और पश्चिम में होने से विहार सुखपूर्वक होता है। यदि निषीधिका आग्नेय (पूर्व+दक्षिण) दिशा में होती है तो संघ में स्पर्धा तू-तू मैं-मैं होने लगता है। वायव्य दिशा में होने पर संघ में कलह होता है।[10]

जैन परम्परा में समाधि-स्थल-निर्माण की परम्परा प्राचीन समय से चलती आ रही है। जैन परम्परा में सल्लेखना धारण करने को उत्कृष्ट साधना कहा गया है। जैन इतिहास पर जब दृष्टि डालते हैं तो ज्ञात होता है कि निर्वाण-स्थली की परम्परा

अनादि से अनंतकाल तक रहने वाली है, क्योंकि तीनों कालों में तीर्थंकर हो चुके हैं, हो रहे हैं और भविष्य में होंगे, साथ ही निर्वाण को प्राप्त करेंगे। यह शाश्वत नियम है कि तीर्थंकरों का जन्म अयोध्या में और निर्वाण शाश्वत तीर्थराज श्रीसम्मेदशिखर जी से होगा। यद्यपि वर्तमान में हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव से 20 तीर्थंकरों ने ही शाश्वत तीर्थराज श्रीसम्मेदशिखर जी से निर्वाण प्राप्त किया है और शेष चार तीर्थंकर– आदिनाथ, वासुपूज्य, नेमिनाथ और महावीरस्वामी ने क्रमशः कैलाश पर्वत, चम्पापुर, गिरनार और पावापुरी से निर्वाण प्राप्त किया है।

जैन परम्परा में महापुरुषों की चिताओं पर चैत्य व स्तूप निर्माण कराए जाते थे। प्रो. हीरालाल जैन ने भारतीय संस्कृति में जैन धर्म के योगदान[11] विषयक अपनी कृति में निषद्या या स्तूप के निर्माण की प्राचीनता सिद्ध करते हुए लिखा है– 'आवश्यक निर्युक्ति[12] में तीर्थंकर के निर्वाण होने पर स्तूप, चैत्य व जिनगृह निर्माण किये जाने का उल्लेख है। इस पर टीका करते हुए हरिभद्रसूरि ने भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण के पश्चात् उनकी स्मृति में उनके पुत्र भरत द्वारा उनके निर्वाण-स्थान कैलाश पर्वत पर एक चैत्य तथा सिद्ध-निषद्या-आयतन निर्माण कराए, जाने का उल्लेख किया है। अर्धमागधी ग्रन्थ जंबूदीवपण्णत्ति में तो निर्वाण के पश्चात् तीर्थंकर के शरीर-संस्कार तथा चैत्य-स्तूप निर्माण का विस्तार से वर्णन किया गया है।' जिनदास कृत आवश्यकचूर्णि में उल्लेख है कि अतिप्राचीन काल में बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत की स्मृति में एक स्तूप वैशाली में बनवाया गया था। हरिषेण कृत बृहत्कथाकोष[13] के अनुसार यहाँ अति प्राचीनकाल में विद्याधरों द्वारा पाँच स्तूप बनवाए, गये थे। धवलाटीका के कर्ता वीरसेनाचार्य व उनके शिष्य महापुराण के कर्ता जिनसेन ने अपने को पंचस्तूपान्वयी कहा है।[14] जिनप्रभसूरि कृत विविध-तीर्थ-कल्प में उल्लेख है कि मथुरा में एक स्तूप सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर की स्मृति में एक देवी द्वारा अतिप्राचीन काल में बनवाया गया था व पार्श्वनाथ तीर्थंकर के समय में उसका जीर्णोद्धार कराया गया था तथा उसके एक हजार वर्ष पूर्व पश्चात् पुनः उसका उद्धार बप्पभट्टिसूरि द्वारा कराया गया था। राजमल्ल कृत जंबूस्वामिचरित के अनुसार उनके समय में (मुगल सम्राट अकबर के काल में) मथुरा में 515 स्तूप जीर्ण-शीर्ण अवस्था में विद्यमान थे, जिनका जीर्णोद्धार तोडर नाम के एक धनी साहू ने अगणित द्रव्य व्यय करके कराया था। मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई में प्राप्त भग्नावशेष में एक जिन-सिंहासन (द्वितीय शती) के लेख में एक देव निर्मित स्तूप का उल्लेख है। हरिभद्रसूरि कृत आवश्यक-निर्युक्ति-वृत्ति तथा सोमदेव कृत यशस्तिलक-चम्पू में मथुरा के देव निर्मित स्तूप का वर्णन आया है।[15] धार्मिक महापुरुषों के स्मारक होने से स्तूप श्रद्धा और पूजा की वस्तु बन

गए और शताब्दियों तक स्तूप बनवाने और उनकी पूजा-अर्चा किये जाने की परम्परा चालू रही। धीरे-धीरे इनका आकार-परिमाण भी खूब बढ़ा। उनके आसपास प्रदक्षिणा के लिए एक व अनेक वेदिकाएँ भी बनने लगीं। इस तरह प्राचीनकाल में स्तूपों का निर्माण प्रचुर मात्रा में हुआ। इस बात के प्रमाण ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

वर्तमान में समाधियों के सम्बन्ध में ऐसे अनेक शिलालेख देखने को मिल जाते हैं, जहाँ पुण्यात्माओं के शरीर का विसर्जन किया गया है। जैन शिलालेख-संग्रह में लगभग शताधिक लेख मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविकाओं के समाधिमरण के स्मारक से सम्बन्धित उपलब्ध होते हैं, जिनमें कतिपय शिलालेखों में निषद्या के भी उल्लेख आये हैं। यथा– कहा जाता है कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने निमित्तज्ञान से जाना कि उत्तर भारत में एक बारह वर्ष का भीषण दुर्भिक्ष पड़ने वाला है। ऐसी विपत्ति के समय में वहाँ मुनिवृत्ति का पालन होना कठिन जान उन्होंने अपने समस्त शिष्यों सहित दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। भारत के महान् सम्राट चन्द्रगुप्त ने भी इस दुर्भिक्ष का समाचार पाकर संसार से विरक्त हो, राज्यपाट छोड़ भद्रबाहु स्वामी से दीक्षा ली और उन्हीं के साथ गमन किया। जब यह मुनि संघ श्रवणबेलगोला स्थान पर पहुँचा, तब भद्रबाहुस्वामी ने अपनी आयु थोड़ी शेष जान संघ को आगे बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं चन्द्रगुप्त शिष्य सहित छोटी पहाड़ी पर रहे। चन्द्रगुप्त मुनि ने अन्त समय तक उनकी खूब सेवा की और उनका शरीरान्त हो जाने पर उनके चरणचिह्न की पूजा में अपना शेष जीवन व्यतीत कर अन्त में सल्लेखना विधि से शरीर का त्याग दिया।[16] चन्द्रगुप्त के श्रवणबेलगोला की छोटी पहाड़ी पर रहने के कारण इसका नाम चन्द्रगिरि पड़ा। इस पहाड़ी पर विद्यमान भद्रबाहु गुफा में चन्द्रगुप्त के भी चरणचिह्न हैं। सेरिरंगपट्टम् के 147 और 148 नं. के शिलालेखों में उल्लेख है कि कलवप्पुशिखर (चन्द्रगिरि) पर महामुनि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के चरणचिह्न हैं। इस तरह इन लेखों में मुनियों, आर्यिकाओं, श्रावक-श्राविकाओं के समाधिमरण और निषद्या के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

वर्तमान में आचार्य शान्तिसागर जी महाराज की कुन्थलगिरि (महा.) में स्थित समाधि-स्थल प्रसिद्ध है। आचार्य आदिसागरजी (अंकलीकर) जी महाराज की उदगांव (कुंजवन), आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज की महेसेना (गुज.), आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज की नसीराबाद (राजस्थान), आचार्य देशभूषण जी महाराज की कोथली (कर्नाटक), आचार्य विमलसागर जी महाराज की सम्मेदशिखरजी, श्वेताम्बर तेरापंथ के आचार्य भिक्षु की सिरियारी (राज.), आचार्य तुलसी की गंगाशहर, बीकानेर (राज.) आदि महान् संतों की समाधि-स्थलियां प्रसिद्ध ही हैं। इसके अतिरिक्त अनेक मुनि महाराजों, आर्यिकाओं एवं श्रावक-श्रावकाओं की

समाधिस्थल नसियाओं में तो कहीं सिद्ध क्षेत्रों तथा अतिशय क्षेत्रों में सैंकड़ों की संख्या में उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि निषद्या-निर्माण की परम्परा प्राचीनतम समय से लेकर वर्तमान तक अनवरत चल रही है।

अंततः यह स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि निषीधिका पूर्णतः जैन परम्परा की मौलिक अवधारणा है। इसके निर्माण की प्राचीन परम्परा रही है, जो वर्तमान में भी प्रचलित है। वर्तमान में इसके निर्माण का प्रचलन यह है कि पुण्यात्मा के मृतशरीर के दाहसंस्कारपूर्वक अस्थियों को कलश में भरकर स्मारक स्थापित किया जाता है।

सन्दर्भ सूची-

1. योगसार प्राभृत, श्रीमद् अमितगति, सम्पा. अनु. जुगल किशोर मुख्तार, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2009 चौथा संस्करण, श्लोक 82, पृष्ठ 224
2. तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डकश्रावकाचार, भगवती आराधना, सर्वार्थसिद्धि आदि।
3. बृहत्भाष्य, भाग 2 वृत्ति सहित (सूत्र 5541), सम्पा. अनु. आगम मनीषी मुनि दुलहराज, जैन विश्वभारती, लाडनूं 2007 प्रथम संस्करण।
4. भगवती आराधना, विजयोदया टीका सहित, गाथा 143, पृष्ठ 326
5. वसुनन्दि श्रावकाचार, गाथा, 452, आचार्य वसुनन्दि, सम्पा. पं. हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, बनारस, 1944
6. प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी, श्रीगौतमस्वामिविरचित, श्रीमत्प्रभाचन्द्रविरचित टीका सहित, सम्पा. पं. मोतीचंद गौतमचंद कोठारी, प्रकाशन– शांतिलाल भगवानदास, मुम्बई, वीर सम्वत् 2473, पृष्ठ 20
7. निसीहि नाम सरीरगं वसही थंडिलं च भण्णति, जतो निसीहिता नाम आलयो वसही थंडिल च, शरीरं जीवस्स आलयो त्ति, तथा पडिसिद्धनिसेवणनियत्तस्स किरिया निसीहिया, ताए।।– आवश्यक चूर्णी, उत्तरभाग, पृष्ठ 46
8. अनेकान्त, वि.सं. 1986 में प्रकाशित लेख– महाराज खारवेल के शिलालेख की 14वीं पंक्ति
9. भगवती आराधना, गाथा 1962-1964
10. भगवती आराधना, गाथा 1965-1967
11. भारतीय संस्कृति को जैनधर्म का योगदान, प्रो. हीरालाल जैन, प्रकाशक. कला एवं संस्कृति विभाग, राजस्थान सरकार, जयपुर 2003, पृष्ठ 301-303 तक
12. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 435
13. वृहत्कथाकोष, हरिषेण, 12, 132
14. भारतीय संस्कृति को जैनधर्म का योगदान, प्रो. हीरालाल जैन, पृष्ठ 302
15. सल्लेखना दर्शन, सम्पा. डॉ. रमेशचन्द जैन, प्रकाशक– भगवान् ऋषभदेव ग्रन्थमाला, सांगानेर, जयपुर 2015, पृष्ठ 142-144
16. जैन शिलालेख संग्रह, भाग 1, प्रो. हीरालाल जैन, पृष्ठ 54-55

❖❖

आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकाओं में आगत कुछ विशिष्ट बिन्दु

—डॉ. शैलेश कुमार जैन*

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि का साहित्य जैन सिद्धान्तों का विश्लेषण करने वाला अमृतोदधि ही है। जहाँ एक ओर उन्होंने उत्कृष्ट टीकाग्रन्थों की रचना की है, वहीं दूसरी ओर कालजयी श्रेष्ठतम मौलिक साहित्य रचकर भी श्रुत संवर्धन किया है। आचार्य कुन्दकुन्द के अमृत के खजाने का ज्ञान, भान और पान कराने वाले अमृतचन्द्राचार्य का व्यक्तित्व तत्त्ववेत्ता मनीषी उनकी मात्र दो पंक्तियों से ही अनुभव कर सकते हैं–

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्।
अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्॥[1]

अर्थात् किसी भी प्रकार मरकर भी तत्त्वों का कौतूहली होकर निज आत्मा का रुचिवंत होकर इन शरीरादि मूर्त पदार्थों का पड़ोसी होकर कम से कम एक मुहूर्त अपने आत्मा का अनुभव तो कर। आत्मानुभव की यही ललक आचार्य अमृतचन्द्र की असाधारण विशेषता है।

1. जैनी सिद्धान्त पद्धति-

आचार्य अमृतचन्द्र ने नयों के पक्षपात से हटकर अनेकान्त तुला के निश्चय एवं व्यवहार रूपी दो पलड़ों द्वारा तत्त्वज्ञान को प्रामाणिक रूप से प्ररूपित किया है। उनका स्पष्ट उद्घोष है–

दुर्निवारनयानीकविरोधध्वंसनौषधिः ।
स्यात्कारजीविता जीयाज्जैनी सिद्धांतपद्धतिः॥[2]

---

*सहायक आचार्य, श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जैन नसिया रोड़, वीरोदय नगर, सांगानेर, जयपुर-302029 (राज.) मो. 9414905397 ई-मेल : jain.shailesh1983@gmail.com

अर्थात् स्यात्कार जिसका जीवन है, जो नयसमूह के दुर्निवार विरोध का नाश करने वाली औषधि है, ऐसी जैनी सिद्धान्त पद्धति जयवंत हो। आचार्य अमृतचन्द्र की दृष्टि में 'अनेकान्त और स्याद्वाद' का माहात्म्य अलौकिक था, तभी तो उन्होंने मंगलाचरणों में भी इनकी महिमा गाई है। उन्होंने अनेकान्त को परमागम का प्राण, नयों के विरोध का शमन करने वाला, अलंघ्यशासन, जिननीति, अर्हन्त का अस्खलित शासन, मोहान्धकार नाशक इत्यादि विशेषण प्रयोग किए हैं।

वस्तुतः अनेकान्त और स्याद्वाद जैन दर्शन के मौलिक एवं विशिष्ट पारिभाषिक शब्द हैं। आचार्य अमृतचन्द्र-संवर्धित इस जैनी सिद्धान्त पद्धति का प्रचार-प्रसार कर विश्व-पटल पर हम अपनी विशिष्ट पहचान बना सकते हैं। आपस के मतभेदों को भी इस पद्धति के अनुसरण से हल किया जा सकता है।

2. आत्मानुभूति-

आचार्य अमृतचन्द्र के साहित्य में आत्मोपलब्धि की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। वे एक कलश के माध्यम से बड़ी मार्मिक बात कहते हैं–

विरं किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलादिभिन्नधाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः॥[3]

अर्थात् हे भव्य जीव! तुझे अन्य व्यर्थ ही कोलाहल करने से क्या? तू इस कोलाहल से विराम ले और एक चैतन्यमात्र वस्तु को स्वयं निश्चल लीन होकर देख। छह मास मात्र अभ्यास करके देख कि ऐसा करने से अपने हृदय-सरोवर में जिसका तेज-प्रकाश पुद्गल से भिन्न है, ऐसे उस आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं होती है?

समयसार की टीका के प्रारम्भ के तीसरे कलश में भी अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं– "मैं शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से शुद्ध चैतन्य मात्र मूर्ति हूँ। परन्तु मेरी परिणति मोह के उदय का निमित्त पाकर मलिन हो गई है। कथन करने रूप इस समयसार ग्रन्थ की व्याख्या करने का यह फल चाहता हूँ कि मेरी परिणति रागादि से रहित होकर शुद्ध हो, मुझे शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो।"

अमृतचन्द्रसूरि आत्मानुभूति न होने का कारण स्पष्ट करते हुए लिखते हैं– "जब ऐसा अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा आबालगोपाल सबके अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी अनादि सम्बन्ध के वश परद्रव्यों के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ़ अज्ञानी जन को यह अनुभूति है वही मैं हूँ, ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं